समकालीन हिन्दी कविता में पर्यावरण विमर्श

डॉ. आर.पी. वर्मा
एसो. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय गोसाईखेड़ा,
जनपद–उन्नाव, उ.प्र.

समकालीन हिन्दी कविता आधुनिक युग की वह विशिष्ट काव्य–धारा है, जो समसामयिक सन्दर्भों से सम्बद्ध है। इसमें सामयिक चेतना व काव्य–बोध स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए संघर्षरत इस कविता ने अपने भीतर अनेकानेक नये मानवीय सरोकार समाहित किए हुए हैं, जिनमें पर्यावरण–विमर्श भी इस कविता की चिन्ता एवं संवेदना का एक केन्द्रीय व उल्लेखनीय पक्ष है।

साहित्य का प्रकृति से घनिष्ठ एवं शाश्वत सम्बन्ध रहा है। परन्तु वर्तमान समय तक प्रकृति का अनवरत शोषण एवं दोहन जिस बड़े पैमाने पर हो चुका है, वह आज सम्पूर्ण विश्व के लिए सर्वाधिक चिंता का विषय है। समकालीन कविता में भी पर्याप्त प्रदूषण और इसके संरक्षण की यही विश्वव्यापी चिंता तथा जागरूकता यत्र–तत्र मुखरित हुई है।

कदाचित् इसीलिए समकालीन कविता में "पारमाणविक सर्वनाश के आसन्न खतरे के प्रति मनुष्य के ही दुष्कृत्यों द्वारा इस विश्व में मनुष्य के एकमात्र आवास पृथ्वी और उसके पर्यावरण के विनाश के प्रति एक नयी जागरूकता, एक ग्लोबल चेतना और इस चेतना के परिणामस्वरूप प्रकृति के प्रति नयी विनम्रता, एक नयी तरह की रागात्मकता भी दिखाई देती है।"

इसी कारण रघुवीर सहाय को यह चिंता सताती है कि पहाड़, जंगल, मिट्टी जैसे घटते प्राकृतिक संसाधनों के कारण प्रकृति मात्र स्मृति का विषय बनकर न रह जाये–

वे पहाड़, जंगल, मिट्टी के मैदान हरे
छोटे हो गये हैं जो इतिहास में बड़े देश के पमाण थे
इनकी विशालता का गुणगान
अब सुनाई नहीं पड़ता।

वैश्वीकरण के संक्रमण के बीच प्रकृति के अनवरत क्षरण का यदि यही क्रम रहा तो सामाजिक सरोकारों से जुड़े भवानीप्रसार मिश्र की चिन्ता है–

कहीं नहीं बचे हरे वृक्ष,
न ठीक सागर बचे हैं, न नदियाँ
पहाड़ उदास हैं और झरने लगभग चुप
आसमान में चक्कर काटते, पक्षियों के दल नजर नहीं आते
क्योंकि वे बनाते थे जिन पर घोंसले
वे वृक्ष कट चुके हैं या सूख चुके हैं
क्या जाने अधूरे और बंजर हम
अब और किस बात के लिए रुके हैं
ऊबते क्यों नहीं इस तरंगहीनता
और रूखेपन से
उठते क्यों नहीं हैं यों,
कि भर दें फिर से धरती को
ठीक निर्झरों, नदियों, पहाड़ों
और वनों से।

हम अपनी धरती माद्द को सजाने, उसे हरा–भरा बनाने की बजाये उसे निर्वसन करते जा रहे हैं। जबकि पेड़ तो पर्यावरण को शुद्ध व स्वस्थ्य बनाने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। नरेश मेहता प्रकृति के पति पूर्णतः मानवोचित पूज्य–भाव रखते हैं:

तुम जिसे पेड़ कहते हो,
वह मात्र पेड़ ही नहीं
एक वानस्पतिक श्लोक है
वेदपाठ है
यज्ञ–ध्वनि है
उत्सव–गान है।
धरती को कहीं से छुओ
एक ऋचा की प्रतीति होती है।
कभी अपनी वैयक्तिकता को
इतनी विशाल स्वर–लिपि में बजने दो बन्धु।

धरती के प्रति यही पूज्य–भाव कवि की कविता को महान बनाता है। वस्तुतः वन हमारी जीवन–रक्षक सम्पदा है। परन्तु हरियाली को निगलते जा रहे औद्योगिक नगरों–महानगरों में जहरीली गैसों से वायुमंडल प्रदूषित हो रहा है, फलतः पृथ्वी के स्वस्थ्य फेफड़े रोगग्रस्त हो रहे हैं। रामदरश मिश्र की साक्षात्कार कविता ऐसे ही विशाक्त परिवेश का एक दृश्य प्रस्तुत करती है–

ओह, कैसी हवा चल रही है आजकल
कि अमराई के सारे बौर
देखते–देखते झुलस जाते हैं
बच्चे पैदा होते ही
विकलांग हो जाते हैं
अन्न
खाने से पहले ही अपच करने लगता है
नदियाँ अपना जल लिए–दिए
खुद ही प्यासी रह जाती हैं
बादल बिना बरसे, जल लिए लौट जाते हैं
धरती के रस को पीती हुई बालियाँ
फसलों के कंधों पर
लाशों की तरह लटक जाती है
हवाएँ
आँसू गैस सी हवाएँ भर गई हैं
हर आँख में।

पेड़ सदियों से हमारे दोस्त थे, परन्तु हमने औद्योगिक नगर बसाने तथा कंकरीट के जंगल खड़े करने के लिए ऑक्सीजन के कोश हरे–भरे जंगलों को बेरहमी से काट डाला। प्रकृति से मानव का आमनवीय रिश्ता ही इस बिखराव, टूटन तथा विघटन का कारण है। परिणामतः निशिवासर विशाक्त हो रहे वातावरण को देख विष्णु खरे को लगता है–

पेड़ शाप देते हैं।
बादल, नदियाँ, जानवर और चिड़ियाँ
सुनते हैं पेड़ों की आखिरी सांसों को
सूरज, हवा और धरती से मिलकर
अपना निर्मम और व्यापक बदला लेते हैं।

वन हमारी अमूल्य निधि तथा जीवन–रक्षक सम्पदा है, जिनका संवर्द्धन तथा संरक्षण अनिवार्य है। किन्तु वन उजड़ने से हम वन्य संगीत, वन–फूलों की महक, नैसर्गिक सौन्दर्य व माटी की महक से तो वंचित हो ही रहे हैं, वहीं वन कटने से पशु–पक्षियों की अनेक प्रजातियों के साथ–साथ औषधिय महत्व के वृक्ष भी लुप्त होते जा रहे हैं :

आयुर्वेद की महक प्रकृति है
वनस्पतियाँ, तना, छाल, फूल–पत्तियाँ
बीज और बीज के भीतर की गिरियाँ और खनिज

जिनमें पगट आयुर्वेद

हर्र, बहेड़ा, आँवला, सौंठ, तुलसी, पीपल

पर्यावरण ही आयुर्वेद

जो डूब रहा है सभ्यता के उत्तर औद्योगिक समुद्र में।

वन कटने का अर्थ है–समूची परम्परा पर आघात। इस विकट से विकटतर होती जा रही समस्या को देखकर समकालीन कवि का चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। मानव ही अहंवादी तथा स्वान्तः–सुखाय की प्रवृत्ति ही इस पर्यावरण असंतुलन के प्रति उत्तरदायी है। इसीलिए कवि धिक्कारता है–

अरे देखो ! स्टेथोस्कोप से

सुनो छाती के घर्घर में अंतःकरण की आवाज

असंख्य जीव–जन्तुओं से भरी

धरती के लिए विशालतम धूमकेतु से

विराटतम उल्का–पस्तर से भी अधिक दुःसह,

अधिक दुर्दान्त हो रहा आदमी

हर दिन लुप्त हो रहीं शताधिक प्रजातियाँ

धरती की अनन्य जीव–रचनाएँ

आदमी के सर्वस्व–संहारी आत्म–विस्तार में।

समस्त दृष्टि का आधार जो जीवन को गति देता है, वह जल ही है। जीवन का प्रत्येक घटक पानी से जुड़ा है। इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने जल को पृथ्वी का सस्वाद अमृत कहकर जल के श्रोतों को निर्मल बनाकर रखने का आदेश दिया था। परन्तु प्रदूषण के कारण जल–चक्र का संतुलन बिगड़ चुका है। दुनिया का तापमान बढ़ने से ग्लेशियर पिघल रहे हैं। यही स्थिति रही तो जल की धरोहर खत्म हो जाएगी और नदियाँ रेगिस्तान हो जाएंगी। कवि केदारनाथ अग्रवाल ने नदी को एकमात्र सांस्कृतिक व चेतना अभिव्यक्ति कहा है जो भविष्य की भूमि की ओर संचरण करती है कहकर नदियों के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया है।

समकालीन कविता में नदी विषयक कविताओं का विपुल भंडार है। इन नदी–प्रसंगों में वर्तमान संकट की भयावहता तथा आक्रोश स्पष्ट उजागर होता है। कवि नागार्जुन पवित्रता की धरोहर, मंगलमयी नदियों की दुर्दशा के प्रति अपना असन्तोष व्यक्त करते हुए लिखते हैं –

नदी ने समेट लिया अपने को !

रुक गए प्रवाह

गायब हो गई लहरें

फैलने लगा सेवार अंदर ही अंदर

दुखी था किसान

मर गई थी नदी।

वस्तुतः स्वच्छ एवं स्वस्थ्य पर्यावरण में ही प्रेम–कल्लोल सम्भव है, परन्तु जल–श्रोतों के सूखने से जहाँ नदी का जलगीत बन्द हो गया, आकाश का सूनापन बढ़ा, रात रोई, वृक्ष रोये, पक्षी रोये, खेतों में हाहाकार मचा तथा चहुँओर सूखा बढ़ा, वहीं प्राकृतिक पर्यावरण में न रहने से मानव का मन भी रेगिस्तान बन गया। नवीन सागर की चिन्ता है कि–

नदी का जाना पता नहीं चला

किनारे के मन्दिर में भगवान

बस्ती में लोग

आकाश में तारे

घोंसले में पक्षी रहे आये।

जब नदी में नदी नहीं रही

रात में रात

सन्नाटे में सन्नाटा रहा।

सुबह सूरज ने देखा

दोनों किनारे एक दूसरे में जाकर उसे
ढूंढते रहे खामोश।

जबकि केदारनाथ सिंह की सम्वेदना है कि—

वह चुपचाप इसी तरह बह रही
पिछले कई सौ सालों से
एक नाम की तलाश में
मेरे गाँव की वह पतली—सी नदी
कहीं कोई मरता है
लोग उठाते हैं
और नदी जहाँ सबसे ज्यादा चुप और अकेली
होती है
उसी के आजू—बाजू फूंक आते हैं।

वहीं जल—संकट पर विनोद कुमार शुक्ल का व्यंग्य बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है —

एक सूखी नदी के नीचे
सूखी रेत की परते हैं
गाँव का सबसे बूढ़ा आदमी
नदी की रेत की तह से
आखिरी में ढूँढ़ लेगा
एक पारदर्शी फॉसिल—शिला
जिसमें चिह्नित होगी
नदी की वनस्पति
नदी की मछली, सीव, घोंघे
और शिला में बन्द
एक बूँद पानी
जिसकी आयु करोड़ों वर्ष होगी।

यही नहीं, सदियों से पूजनीय व पवित्र जल—स्त्रोतो को भी हमने कचरे का निकास—द्वार बना दिया है। नरेश सक्सेना का व्यवस्था के प्रति गहरा दुःख इन पंक्तियों में झलकता है—

हमने घी और दूध से भरी नदियों का स्मरण
किया
और उन्हें मल और मूत्र से भर दिया।
नदी की सतह पर अब सिर्फ कालिख और तेल है
सूरत तक नहीं देख पाता उसमें अपना चेहरा।

उद्योगों के विकास से विशाक्त तरह पदार्थ नदियों में गिरता है, इससे दूषित हुई नदियाँ अनेक असाध्य रोगों को जन्म देती हैं। करोड़ों टन कचरे को ढोती गंगा जैसी निर्मल नदी स्वयं मैली हो चुकी है—

आगे—आगे भगीरथ पीछे—पीछे गंगा
वेग, गति और प्रवाह से गंगा बन गई नदी
नदी की देह में मटमैला गाद
नदी के मुँह पर झाग ही झाग।

कवि राजेन्द्र उपाध्याय की काव्य—चेतना अत्यंत सजग है पृथ्वी—धरोहर को संरक्षण प्रदान करने हेतु वे वैदिक ऋषि की भांति ही कृत—संकल्प प्रतीत होते हैं :—

मेरे लिए यह सिर्फ एक नदी नहीं, माँ है,
मेरे थके हुए तलुए सहलाती हुई
और मेरी फटी बिवाई में मोम भरती हुई
माँ इसका पानी
अपने घर में अमृत की तरह संजोकर रखती है
और पीढ़ियों तक सींचती है इससे
अपने घर की जड़ों को
यह कौन हमारी गंगा में जहर घोल रहा है
यह कौन मेरे ताजमहल को धुएँ में बदल रहा है
और मेरे पेड़ को उसकी जड़ों से उखाड़ रहा है।

मैं अपनी गंगा को गंदगी से और अपने ताजमहल को
जानलेवा धुएँ से बचाना चाहता हूँ
मैं अपने पेड़ को लम्बी उम्र देना चाहता हूँ।

समकालीन कवि ने पर्यावरण को सतत दूषित कर रही यांत्रिक सभ्यता का विरोध किया है तथा इसके माध्यम से व्याप्त अधोगति की व्यंजना की है :

और दूसरी और राक्षसी भीम चिमनियाँ
अस्थि–धूम निर्बन्ध उगलतीं
इस स्पंजी दानव ने
जीवन का अमृत सोख लिया है
यंत्रा–दैत्य चिंघाड़ रहे हैं
नभ की छाती फाड़ रहे हैं
अणु का वैश्वानर जलता है
धुआं नागफन बन उठता है
नभ में तनी शक्ति की भुज है
और दूसरी ओर मनुज है।

सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी मानव आज वैज्ञानिक प्रगति के नाम पर भयंकर हथियारों के जखीरे जोड़कर भस्मासुर बन बैठा है। समकालीन कवि नागार्जुन ने कल्याणी धरती माँ को सर्वविनाशक वैज्ञानिक अस्त्रों से बचाने की तीव्र इच्छा व्यक्त की है तथा युद्ध–व्यसनी मानव की हिंसक वृत्ति का घोर विरोध किया है–

पौधों या पेड़ों में कभी नहीं फली हैं छुरियां
कंद की जड़ से कभी नहीं निकला है विस्फोटक बम
चर कर घास गाय ने दूध के बदले नहीं दिया हलाहल
सोखकर ध्रती का रस जहर नहीं बरसा कभी भी बादल
निछावर हम इस पर
तुम्हारी नहीं, हमारी है धरती
सुनो हे वज्रपाणि युद्ध–व्यसनी दानव !
सुनो हे अशोभन, अमंगल, अवायु !
तुम्हारा अपावन स्पर्श नहीं चाहती
अहल्या कल्याणि चिरकुमारी धरती !

मानवीय संवेदना के खोले जाने की यह स्थिति विषम भी है और दर्दनाक भी–

माँ तो तुम उनकी भी हो
पर वे दुर्बुद्धि भस्मासुरी बेटे तुम्हारे
नहीं जानते
नहीं मानते इस रिश्ते को
वे तुम्हारी खाल उधेड़ लेना चाहते हैं
हिरनी की छाल की तरह
तुम्हारी शिराओं के वक्त में घोल रहे हैं निरन्तर
इन घावों से निकला हुआ रासायनिक अपद्रव्य
तुम्हारी आँखों, कानों, नथुनों में झोंक रहे हैं
तेजाबी धुएं के बादल
तुम्हारी ओजोन की साड़ी फाड़कर
तुम्हें नंगा कर देना चाहते हैं
द्रौपदी की तरह वे।

सत्य ही तो है एक ओर गगनचुम्बी इमारतों तथा औद्योगिक–विस्तारवाद ने जहाँ समूची हरियाली को निगल लिया है, वहीं वाहनों के धुएं से निकला सीसा, रेडियो–एक्टिव कचरा मानव–जीवन के लिए चिन्ता का विषय बनता जा रहा है। ओजोन में हो रहे छेद के लिए मानव स्वयमेव उत्तरदायी है। धरती माँ ऊर्जास्वला है, शस्य–श्यामला है, वह तो आधार है। अगर वही

कुपित हो गई तो इस संसार में कुछ नहीं बचेगा–

नामहीन,
इतिहासहीन हो जाएगा यह पूरा ब्रह्माण्ड
और पृथ्वी
अपनी ओजोन की साड़ी चीर–चीर कर दिए जाने के बाद
अरक्षित, नंगी और बंजर
क्षत–विक्षत लटकी रहेगी आसमान में अनाम
यह सुजला, सुफला वसुंधरा !
यह तो होना ही है एक दिन निश्चित अटल।

अतः समकालीन कवि की मानवीय–संवेदना समय के इस संताप से आहत हो चुकी है। इसीलिए मानवीय मूल्यों व भावनाओं से आबद्ध इस कविता में यत्र–तत्र आधुनिकता तथा विकास के नाम पर प्रकृति–चक्र को और अधिक असंतुलित न किए जाने की एक सार्थक अपील व चेतना सर्वत्र दिखाई देती है। 'जब पर्वत रोयेगा' में ग्रेस कुजूर की यही चेतावनी व्यक्त होती है–

न छेड़ों प्रकृति को
अन्यथा एक दिन
मांगेगी हमसे, तुमसे
अपनी तरुणाई का एक–एक क्षण
और करेगी
भयंकर बगावत।

संदर्भ

1. सं. रणजीत सिंह, समकालीन हिन्दी कविता (काव्य–संकलन), भूमिका, पृ. 23
2. प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 128
3. परिवर्तन जिये, पृ. 106–7
4. उत्सव, पृ. 49–50
5. कंधे पर सूरज, पृ. 4
6. शाप, सं. प्रयाग शुक्ल, कविता–नदी (काव्य–संकलन), पृ. 245–46
7. कुमार अम्बुज, आयुर्वेद कविता, अनंतिम, पृ. 30
8. ज्ञानेन्द्रपति, ओ–ओ का विदागीत कविता, संशयात्मा, पृ. 46
9. पहाड़ और नदी, कविता–नदी (काव्य–संकलन), पृ. 107
10. वह फिर जी उठी, कविता–नदी (काव्य–संकलन), पृ. 107
11. नदी नहीं रही, कविता–नदी (काव्य–संकलन) पृ. 275
12. बिना नाम की नदी, कविता–नदी (काव्य–संकलन) पृ. 224
13. एक सूखी नदी, कविता–नदी (काव्य–संकलन) पृ. 242
14. नदी, कविता–नदी (काव्य–संकलन), पृ. 247
15. लीलाधर जगूड़ी, पनघट पर भगीरथ, कविता–नदी (काव्य–संकलन) पृ. 263
16. गंगा केवल एक नदी का नाम नहीं, कविता–नदी (काव्य–संकलन) पृ. 303–304
17. गिरिजा कुमार माथुर, नाश और निर्माण, पृ. 73
18. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ, भाग–2, सुं. शोभाकांत मिश्र, पृ. 49
19. डॉ. रणजीत सिंह, पृथ्वी के लिए, समकालीन हिन्दी कविता पृ. 81
20. डॉ. रणजीत सिंह, संसार हत्या का षड्यन्त्र, समकालीन हिन्दी कविता पृ. 80
21. युद्धरत आम आदमी, सं. रमणिका गुप्ता, जुलाई–दिसंबर पृ. 41–42
22. समकालीन हिन्दी कविता में पर्यावरण विमर्श डॉ. पूनम पृ. 105–112

23. समकालीनता के अर्थों में हिन्दी कविता
संपादक प्रो0 सुखदेव सिंह मिन्हाल पृ. 15

Copyright © 2015, Dr. R.P.Verma. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.